

संगीत कला में परिवर्तन - अतीत और आज : एक मूल्यांकन

प्रस्तुत शोधपत्र में - संगीत कला में परिवर्तन, अतीत और आज का अध्ययन किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 19 वीं शताब्दी में राजनैतिक, सामाजिक दृष्टि से आधुनिक युग का सूत्रपात साहित्य और अन्य कलाओं के लिए रहा। सांगितिक परिवर्तन तो इस युग में हुआ। सर्वाधिक लोकप्रिय शास्त्रीय शैली ख्याल घराने के रूप में बंट गई। यह भी इस युग की मांग थी। साथ ही संगीत को बचाने का संभवतः यही एक मात्र पर्याय था। शास्त्रीय संगीत की परिवर्तन क्षमता ने ही इस क्षेत्र में एक बहुत बड़ी उपलब्धि प्राप्त की, जो इस क्षेत्र के महान विभूती विष्णु द्वय के अथक प्रयास का परिणाम था। जिसे हम पं.पलुस्कर एवं पं.भातखण्डे कृत स्वलिपि पद्धति मानते हैं और उस समय की इस उपलब्धि का अलभ्य लाभ वर्तमान के संगीत शिक्षण को मिला। आज के पूर्णतः वैज्ञानिक ऑडियो, वीडियो की लोकप्रियता की दौड़ में भी स्वरलिपि पद्धति की महत्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। यह भी परिवर्तन का ऐसा रूप है, जिसने अपनी आयु वैदिक युग से प्रारंभ की थी, मध्य युग में यह रूप अपने यौवन पर चढ़ा और वर्तमान युग तक पहुंचते-पहुंचते इसने व्यावसायिकता का ऐसा जामा पहना, जिसने शास्त्रीय संगीत को उपशास्त्रीय सुगम फिल्म और अब पॉप संगीत के परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया। कोई भी विदेश रूप इस भारतीय संगीत को मर्मन्तक आघात देकर नष्ट प्रायः कदापि नहीं कर सकता, ऐसा मेरा विश्वास है और इस हेतु हम संगीत के क्षेत्र के बुद्धिजीवियों, कलाकारों को निरंतर प्रयास करने होंगे।

प्रा.डॉ. राजेन्द्र देशमुख

भारत में सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर धार्मिक भावना और दार्शनिक चिंतन धारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषांगिक उपलब्धियाँ हैं।

भारतीय संगीत एक जीवंत शक्ति है। भारत में समय - समय पर विदेशी और विजातीय तत्वों के आते रहने से परस्पर संधान होते रहे हैं, परन्तु इन्हीं से होकर भारतीय संगीत में ऐसी जीवनी शक्ति का संचार भी होता रहा है कि डूबते - डूबते भी हम उबरते चले गए। डॉर्विन के सिंधांत को आत्मसात् करते न तो हम निस्तेज हुए न ही निष्प्रभ वरन् तत्कालीन परिस्थितियों में रूप बदलता हमारा भारतीय संगीत अपनी अरुणिमा से महिमा मंडित होकर हमें शीर्ष पर स्थापित करता रहा।

भारतीय संगीत के इतिहास का अवलोकन करें तो इस अजेय शक्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। एक अंतः शक्ति का प्रखर तेज भारतीय संगीत को दीप्त करता रहा है। वस्तुतः परिवर्तनों को पचा सकने की भारतीय संगीत में अद्भूत क्षमता है। बल्कि मेरी तो मान्यता है कि वृक्ष में फूटती कोंपलों की तरह परिवर्तनों से ही संगीत की स्वभावगत गतिशीलता को वेग मिलता है। तात्पर्य यह कि सृष्टि के परिवर्तन के नियम को धारण करता हमारा भारतीय संगीत लचीलेपन की धारिता से निरंतर प्रवाहित होता रहा है।

भारत में आध्यात्मिक चिंतन लगभग हर विद्या के साथ जुड़ा है।

इसलिए विकास क्रम या जिसे हम विवर्तन भी कह सकते हैं इस भारतीय अवधारणा के साथ जुड़ा है, कि प्रत्येक वस्तु सम्भूत होती है, कोई वस्तु निर्मित नहीं होती। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि भारतीय संगीत के भी विभिन्न आयाम प्रच्छन्नावस्था से बाहर लाए गए हैं क्योंकि जो है वह कभी नष्ट नहीं होता। वरन् नव रूप में समाहित होता है। इतिहास साक्षी है, कि विषम परिस्थितियों में भी भारतीय मनीषा द्वारा संघर्ष का अंत करने के लिए समय - समय पर ऐसे समाधान खोजे गए हैं जिनका प्रभाव दीर्घकाल तक रहा है।

भारतीय संगीत का रूप परिवर्तन मूलतः विकास का ही हिस्सा है। वैदिक युगीन सांगितिक परम्परा का प्रच्छन्न रूप विकास क्रम की आवश्यक शर्त के आधार पर ही नवविन्यास ग्रहण करता आया है। यह मान लेना कि वह संगीत मिश्र की ममी था और उसने आज तक की यात्रा वैदिक युगीन पडाव पारकर नही की हमारी सरासर भूल है। सामायिक परिवर्तन अथवा युगानुरूप परिस्थिती जन्य नावीन्य, चिरंतन मूल्य के द्योतक है। इसलिए तत्कालीन प्राचीन गीत प्रकार जिन्हे हम वैदिक युगीन प्रचलित गीत शैलियों साम, गीति, गाथा गांधर्व एवं लौकिक अर्थों में नाटय ध्रुवा जाति गायन और फिर ग्राम राग से होते हुए प्रबंध गान के रूप में जानते हैं। संगीत के विकास क्रम की वह श्रृंखलागत कडिया है जिनमे विकास की निरंतरता न तो कही टूटती है और न ही उसका विच्छेद ही होता है, होता है तो मात्र रूप परिवर्तन। यही भारतीय संगीत का वह कलात्मक

सृजन है जो बाह्य वातावरण और परिस्थितियों के बीच उद्भूत मनुष्य की सूक्ष्म तथा कोमल अंतर्वृत्तियों की चेष्टाओं को निर्देशित करता है।

वस्तुतः कोई भी क्षीणप्राय होती शैली कला हो या साहित्य जीवंतता के लिए प्राणतत्त्व की मांग करती है। यह क्षीणता ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियों का ऐसा जाल बुनने से आती है जिससे उबरने के लिए उसे नवीन रूप रचकर अपनी जीवंतता का प्रमाण देना पड़ता है। यही स्थिति भारतीय संगीत के शैलीगत परिवर्तन के संदर्भ में दिखाई पड़ती है।

१५ वीं शदी में प्रबंध गान के नियमों का उल्लंघन मानो उस समय की मांग बन बैठे परन्तु मूल तत्व न खोने की भारतीय संगीत का मूल मंत्र इन्हीं में से ध्रुवपदों का विन्यास ग्रहण करता गया और लगभग १८ वीं शती में ध्रुवपद शैली भारतीय शास्त्रोक्त संगीत का प्राण तत्व बन गई। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अकबर कालीन साहित्य एवं संगीत साहित्य एवं संगीत के पुनुरुत्थान का स्वर्णयुग था। इसीलिए तत्कालीन शैली के पल्लवन को भरपूर अवसर मिला। भौगोलिक दृष्टि से इस शैली का प्रसार इसके भिन्न भिन्न केंद्र के जरिए प्रमुखतः ग्वालियर फिर बंगाल, वृदावन, रामपुर, बीजापुर, विष्णुपुर, बेतिया, अतरौली, आगरा, दिल्ली और सहारनपुर तक हुआ। तात्पर्य यह कि यह उस सदी का संगीत का वह रूप था जिसने एक सुंदर इतिहास न सिर्फ रचा वरन् आगामी प्रगती शिखर के लिए एक माबूत आधार शिला भी रखी।

अब देखिए किस तरह जन जन में बैठने वाले संगीत के इस रूप ने अपना स्वरूप बदला। वस्तुतः साम गान से ध्रुवपद और फिर ध्रुवपद से नया रूप धरने में परिवर्तन का रूप विच्छेदन न होकर उत्क्रांती का चरण है। मुझे स्मरण होती है प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्पेंगलर की स्थापना। उसका मानना है कि कोई भी नवीन अविषकार उस सभ्यता शैली अथवा परम्परा का स्वभावगत अवदान होता है। नव सृजन होता अवश्य है पर वह इतिहासकी पतरवर्तन न होकर विकास का चरमात्कर्ष होता है।

में ऐतिहासिक श्रृंखला की उन कड़ियों को जोड़ने का प्रयास कर रहा हूँ जिसे ग्यारवी सदी से प्रारंभ हुई, इस्लामी संस्कृति घुसपैठ को भारतीय संगीत का परिवर्तनकारी बल मान लिया गया है। यद्यपि अरबी - फारसी सभ्यता के संसर्ग में आकर भी भारतीय संगीत अछुता रहा ऐसा मेरा दावा नहीं है क्योंकि भारतीय संगीत समन्वयन का दूसरा नाम है। डॉ. नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में माना है कि मध्यकालीन कला क्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति जाने - अनजाने काम कर रही थी और इस प्रकार भारतीय कलाओं में एक नवीन मोड़ आ गया।

भारतीय संगीत के मूल तत्व इन बाहरी प्रभावों से अपनी पहचान खो बैठे, इतने निर्बल न तब थे और नहीं आज है वैज्ञानिक युग में ही है। जैसे फल पकता है तो उसके मर्म से नये जीवन का बीज सुदृढ होता है। ऐसे ही आवश्यक शर्तानुसार और फिर यही पर प्रबंध से उत्पन्न ध्रुवपद के गर्भ से ख्याल शैली का वह रूप निर्मित हुआ जिसने १५ वीं शती तक आते आते सर्वाधिक लोकप्रिय शास्त्रीय शैली का रूप प्राप्त किया। परंतु यही वह समय था जब भक्ति काल की जगह हिन्दी काव्य भी रस सिक्त होकर रीतिकाल का अवगाहन कर रहा था। सो समाज का प्रतिबिम्ब कहे जाने वाले साहित्य ने करवट ली तो उसका सीधा प्रभाव शास्त्रीय गायन पर भी पड़ा। क्यों कि परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध लोक रुची एवं जनमन रंजन से होता है। इसीलिए मेरा विचार है कि सामाजिक बलों से उत्पन्न परिवर्तन अपने आप में सृजनात्मक होता है। कभी वह सकारात्मक हो सकता है तो कभी नकारात्मक संगीत पर उस युग की स्थूल प्रेरणा स्वीकार की जा सकती है। यही परिवर्तन का नियम भी है।

अतः ध्रुवपद के बंधन के घातक कसाव से और सामाजिक बंधन में आई शिथिलता के परिणामस्वरूप इस शैली में विस्फोट हुआ और नई शैली का रूप उभरा। ध्रुवपद की इस परिवर्तित संयोजना को ही ख्याल की संज्ञा दी गई। यह संदर्भ में शास्त्रीय संगीत के प्रसंग पर स्पष्ट कर रहा हूँ। क्योंकि तत्कालीन संगीत का जो रूप उभरा वह शास्त्रीय दृष्टि से आलोचना विषय न होकर वास्तव में उस युग की सम्पूर्ण कला चेतना का आधार था।

१९ वीं शताब्दी में राजनैतिक, सामाजिक दृष्टि से आधुनिक युग का सुत्रपात साहित्य और अन्य कलाओं के लिए रहा। सांगितिक परिवर्तन तो इस युग में भी हुआ। सर्वाधिक लोकप्रिय शास्त्रीय शैली ख्याल घराने के रूप में बंट गई। यह भी इस युग की मांग थी। साथ ही संगीत को बचाने का संभवतः यही एक मात्र पर्याय था। शास्त्रीय संगीत की परिवर्तन क्षमता ने ही इस क्षेत्र में एक बहुत बड़ी उपलब्धि प्राप्त की जो इस क्षेत्र के महान विभूती विष्णु द्वय के अथक प्रयास का परिणाम था। जिसे हम पं. पलुस्कर एवं पं. भातखण्डे कृत स्वरलिपि पद्धती मानते हैं, और उस समय की इस उपलब्धि का अलभ्य लाभ वर्तमान के संगीत शिक्षण को मिला। आज के पूर्णतः वैज्ञानिक, ऑडिओ, व्हीडिओ, की लोकप्रियता की दौड़ में भी स्वरलिपि पद्धती की महत्ता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह भी परिवर्तन का ऐसा रूप है, जिसने अपनी आयु वैदिक युग से प्रारंभ की थी, मध्य युग में यह रूप अपने यौवन पर चढ़ा और वर्तमान युग तक पहुँचते पहुँचते इसने व्यावसायिकता का ऐसा जामा पहना जिसने शास्त्रीय संगीत को उपशास्त्रीय सुगम फिल्म और अब पॉप संगीत के परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया। वस्तुतः परिवर्तन और नाविन्य प्रियता मानव का मूल स्वभाव धर्म है, जो कला ही नहीं जीवन के हर क्षेत्र में दिखाई देता है। इसीलिए मेरे विचार से परिवर्तन संगीत की ऐसी लंबी पारी है, जो अखंड रूप से चलती जाती है। युगीन एवं परिस्थितिगत जनमास में भारतीयता के उत्स से यह परिवर्तन अवश्यभावी होता है। उत्क्रांती के शाश्वत सत्य ने वैदिक युगीन रूप से वर्तमान शैलियों की पल्लवित रूप में प्रस्तुत किया है। शास्त्रीय संगीत के इस परिवर्तित युग को समाज ने अंगीकार किया। गंभीरता के धरातल पर इसका अपना अक्षुण्ण स्थान आज तक बना हुआ है। उसके रूप ने नवीन विन्यास गृहण करने की प्रयोग धार्मिता को स्वीकारा है। भारतीयता के कोरव से जन्म लेता संगीत का परिवर्तित रूप ध्रुवपद, ख्याल, फिर टप्पा, तुमरी, गाल, दादरा और आज गीत गाल, फिल्म संगीत में जीवित है। कोई भी विदेश रूप इस भारतीय संगीत को मर्मन्तक आघात देकर नष्ट प्रायः कदापि नहीं कर सकता, ऐसा मेरा विश्वास है और इस हेतु हम संगीत के क्षेत्र के बुद्धिजीवियों कलाकारों को निरंतर प्रयास करने चाहिए ऐसा मेरा आग्रह है।

संदर्भ :

- (१) भारतीय संगीत का इतिहास - उमेश जोशी।
- (२) The Khayal and its evolution - Shri. M.V. Dhond
- (३) हमारा आधुनिक संगीत - डॉ. सुशील चौबे।
- (४) घराना की चर्चा - डॉ. सुशील चौबे।
- (५) ध्रुवपद और उसका विकास - आचार्य बृहस्पति।



संगीत शिक्षण में गुरु-शिष्य परम्परा का महत्व : एक मूल्यांकन

प्रस्तुत शोधपत्र संगीत शिक्षण में गुरु-शिष्य परंपरा के महत्व पर आधारित है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा ने ही संगीत को अधिक समृद्ध बनाया है, क्योंकि गुरु अपनी विधाओं में पारंगत होते थे तथा उन्हीं शिष्यों को स्वीकार करते थे, जो तीव्र बुद्धि, लगन, गुरु निष्ठा आदि गुणों की कसौटी पर खरे उतरते थे। शिक्षा कठिन तथा साधना से परिपूर्ण होती थी। नियमों की कसौटी पर उतरने के पश्चात् गुरु भी निष्काम भाव से शिक्षा देते थे तथा शिष्यों को सिखाने का पूरा दायित्व अपने ऊपर ले लेते थे। मौखिक परंपरा से ही हम पुरातन साहित्य एवं सांगीतिक संपदा को सुरक्षित रख पाए हैं। संगीत कला के सैद्धांतिक एवं कलात्मक दोनों ही पक्षों का संरक्षण तथा संवर्धन इसी मौखिक परंपरा से हुआ है और इसी गुरु-शिष्य परंपरा से शिष्य कलाकार बनकर निकलते थे। इससे सिद्ध होता है कि संगीत शिक्षण में गुरु-शिष्य परंपरा का सर्वाधिक महत्व है।

सीमा मैहता

संगीत की संवादात्मक सबलता का एक सशक्त प्रमाण है, संगीत शिक्षा, जिसमें निहित समस्त तत्व, अपनी ध्वन्यात्मक सूक्ष्मता के माध्यम से मौखिक रूप से शिक्षार्थी को न केवल ज्ञानावर्धन करते हैं वरन् उसे संगीत की मनोवैज्ञानिकता, सांस्कृतिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं सौन्दर्यशास्त्री आधारभूमि का दिग्दर्शन करवाते हुए उसके व्यक्तित्व में गुणात्मक वृद्धि करने के साथ उसे सुसभ्य बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सांगीतिक संरचनाओं व संरचनात्मक तत्वों के प्रयोग से उत्पन्न विशिष्ट प्रभावों का अनुभव करते हुए कला कौशल प्रतिभा का लाभ उठाते हैं। संगीत के विकास में आदर्श गुरु व आदर्श शिष्यों के द्वारा निर्मित यह श्रृंखला अति प्राचीन काल से चली आ रही है। जो अनेक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक थपेड़ों को सहते हुए भी अपने मूलाधार गुरु शिष्य परम्परा पर ही अवलम्बित है।⁽¹⁾ जिसमें गुरु का शिष्य को शिक्षा प्रदान करना तथा शिष्य द्वारा शिक्षा ग्रहण करने की परम्परा विद्यमान थी। गुरु और शिष्य द्वारा शिक्षा का आदान प्रदान ही संगीत शिक्षण का मुख्य उद्देश्य था क्योंकि संगीत एक संवादशील और प्रयोगशील कला है। इस कला का माध्यम ध्वनिनाद है जो श्रवण बोधी रहता है। इसलिए इस कला को श्रवणविद्या कहा जाता है। संगीत शिक्षा श्रवण और अनुकरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। संगीत शिक्षा ग्रहण करते समय गुरु और शिष्य दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। अतः हम कह सकते हैं कि संगीत शिक्षण प्रणाली का इतिहास “गुरु शिष्य परम्परा द्वारा पारम्परिक शिक्षा ग्रहण करना” का इतिहास है।

संगीत शिक्षण में गुरु शिष्य परम्परा अविरल बहने वाले जल के सामान है, जिसका आदि स्तोत्र गुरु माना जाता है। भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान सर्वोच्च माना जाता है।

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

भारतीय संस्कृति में गुरु की महिमा अपरंपार है, गुरु का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्म के तुल्य समझा जाता है। संगीत जगत में गुरु को इसी मान सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि गुरु के

माध्यम से ही संस्कार, शिक्षा के गुण, अच्छा आचरण और एक परम्परा शिष्य को मिलती है। गुरु अपने परिश्रम से प्राप्त ज्ञान भंडार शिष्य को अर्पण कर और सही मार्गदर्शन का निर्देशन कर ज्ञान का विस्तृत मार्ग खोल देता है।

गुरु के विषय में कबीरदास जी का कथन है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।

बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

श्रीमद् भावगद में कहा गया है कि जो परमोच्च कल्याण का मार्ग जानना चाहता है उसे गुरु की शरण लेनी चाहिए। गुरु ऐसे हो जो ब्रह्म के वेदादि में निपुण हो तथा निरन्तर परब्रह्म में प्रतिष्ठित रहते हो और जिनका चित्त पूर्णतः शांत हो यथा -

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्द परे च निष्णात ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

(श्रीमद् भागवत् 11.3.21)

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में गुरु शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं - गुरु (वि.) गृणाति उपदिशति धर्म गिरति अज्ञानवा यब्दा गीर्यतेदेव गन्धर्वादिभि, गृ+कु, उत्त्व (तुलनात्मक-गरीयस, गरिष्ठ) भारी बोझिल, महान, दीर्घ, महत्वपूर्ण प्रचण्ड, सम्मानित, प्यारा (पु०) पिता, बुजुर्ग अध्यापक, मन्त्रदाता, बृहस्पति ग्रह, किसी नये सिद्धांत का प्रचारक, द्रोणाचार्य, दो मात्राओं वाला वर्ण, दीर्घ अक्षर-गुरुजन, पू०य पुरुष, माता-पिता, आचार्य आदि।⁽²⁾

हिन्दी विश्वकोश में गुरु शब्द के अनेक अर्थ दिए हैं-उसका तात्पर्य सम्प्रदाय, प्रवर्तक, धर्मोपदेशक अथवा किसी कला में निष्णात् भक्ति (उस्ताद) से भी होता है।⁽³⁾ हिन्दी शब्द सागर में गुरु का अर्थ अन्य अर्थों के साथ यह भी दिया है -

आचार्य, किसी मंत्र का उपदेष्टा, किसी विद्या या कला का शिक्षक, सिखाने वाला, पढ़ाने वाला उस्ताद।⁽⁴⁾ प्रत्येक काल में गुरु को पूजनीय माना जाता रहा है।

भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में गुरु उस आचार्य

को कहते हैं जो शिक्षक का कार्य करता हो। इस शब्द में भारतीय शिक्षण परम्परा का चित्र सामने आ जाता है। भारतीय इतिहास में अध्यापक के चरित्र उसके उत्तम आदर्शों और सामाज्य उसके आदर का द्योतक है। शास्त्रों में गुरु के तीन भेद माने गए हैं। आचार्य, उपाध्याय और गुरु। तीनों प्रकार के शिक्षकों का कार्य क्षेत्र भी भिन्न है।

प्रथम - जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन करे, यज्ञ विद्या तथा उपनिषद् सहित वेद पढ़ाए आचार्य कहलाते हैं।

उपनीय तु सः शिष्य वेदमध्यायेद् द्विजः।

संकल्प सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते॥

(मनुस्मृति 2.97)

द्वितीय - वैदिक मनुस्मृति में कहा गया है कि जीविका प्राप्त करने के लिए जो वेद वेदांगों को पढ़ाता है वही उपाध्याय कहलाता है।

एकादेशंतु वेदस्य वेदांगान्यापि वा पुनः।

योध्यापयति वत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥

(मनुस्मृति 2.98)

तृतीय - जो विप्र निषेक आदि क्रमों को विधिपूर्वक करता है और संस्कारों को पूर्ण विधि से सिखाता है एवं अन्य प्रकार से भी ख्याति प्राप्त करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है।

निषेधादीनी कर्मणि यः करोति यथाविधि।

सम्भवयति चान्येन स विप्रो गुरुच्येते॥

(मनुस्मृति 2.99)

शिक्षको अर्थात् आचार्य, उपाध्याय व गुरु के इन तीनों रूपों में शिष्य को पूर्ण रूप से विद्वान बनाने की प्रवृत्ति निहित है।⁽⁵⁾ गुरु के महत्व को शास्त्रों में भी सर्वसम्मत से स्वीकारा है और विद्वानों ने गुरु शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है :

गुरुवदस्तवन्धकारे स्याद स शब्द रात्रिरोधके

अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्य भिधीयते।⁽⁶⁾

अर्थात् गु का अर्थ है अन्धकार और रू का अर्थ विनाश करके प्रकाश देने वाला अर्थात् अंधकार का विनाश करके प्रकाश देने वाला या अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से अपने शिष्य के अज्ञान रूपी अंधकार को मिटाने वाला होता है। रामायण तथा महाभारत में भी गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। बिना गुरु के शिक्षा और आशीर्वाद से सफल संगीतज्ञ बनने की कल्पना करना असंभव है। यह तथ्य बिल्कुल सही है कि "गुरु बिन ज्ञान कहाँ से पाऊँ, दीजो ज्ञान हरि गुण गाऊँ" अर्थात् बिना गुरु के ज्ञान मिलना असंभव है।

संगीत शिक्षा प्रदान करने के लिए गुरु में कुछ विशेष गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। संगीत एक सृजनशील कला है तथा इसमें हमेशा सृजनशीलता की आवश्यकता होती है, परन्तु व्यक्तिगत सृजनशीलता और दूसरों के कण्ठ या वाद्य से निकलवाना एक कठिन कार्य है। गुरु को केवल कला का तकनीकी ज्ञान ही विद्यार्थी के कण्ठ अथवा हाथ में नहीं बैठाना होता बल्कि संगीतोपयुक्त संस्कारों को भी उसके मन में डालना होता है, जिससे उसकी सृजनशीलता की शक्ति का विकास हो सके। शिष्य की भी विनम्र भाव से गुरु को आदर सम्मान देते हुए धैर्यपूर्वक कठिन परिश्रम, श्रद्धा के साथ साधना करते हुए गुरु को गायन या वादन को आत्मसात् करना होता है।

विनय से तात्पर्य विनम्रता से है तथा विनम्रता को बहुत बड़ा गुण माना जाता है। प्रत्येक शिष्य यह समझता है कि उसका निर्वाण अपने माता-पिता और गुरु का आदर करने से होगा। इसलिए प्राचीन काल से ही शिष्यों को इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि वे लौकिक और

अध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में स्वेच्छापूर्वक पदारूढ गुरु की आधीनता स्वीकार करे।

साधना - इस शिक्षण पद्धति का तीसरा गुण साधना था, जिसका तात्पर्य अभ्यास, कठिन परिश्रम और अनुशासन से था। शिष्य प्रायः अनुशासन को स्वयं ग्रहण कर लेते थे। अनुशासन उन्हें सिखाना नहीं पड़ता था। इस प्रकार गुरुकुल पद्धति में गुरु, विनय और साधना तीनों बहुत महत्व रखते थे।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वैदिक काल से ही उपनिषद् शब्द उप (निकट) नि (नीचे) और सद (बैठना) से मिलकर बना है अर्थात् नीचे निकट बैठना।⁽⁷⁾ शिष्यगण गुरु के निकट बैठकर सोना-बसीना शिक्षा लेते थे। यह शिक्षण प्रणाली मूलतः गुरुकुल पर आधारित थी। गुरुकुल का अर्थ गुरु ग्रह या आश्रम में रहकर विद्योपार्जन करना। जिन शिष्यों को संगीत शिक्षा ग्रहण करने की प्रबल इच्छा होती थी वे गुरु आश्रम में रहकर गुरु की सेवा कर, कठोर अनुशासन, निर्यामत व संर्यामत जीवन बिताते हुए सतत् साधना करते हुए गुरु द्वारा दी गई सम्पूर्ण शिक्षा को आत्मसात् करते थे। संगीत शिक्षण की यही पद्धति "गुरु शिष्य प्रणाली" या "परम्परा" के नाम से पहचानी जाती है, क्योंकि भारतीय संगीत में जो सुघड़ता व शास्त्रबद्धता है वह अनुपम है। संगीत के सतत् विकास का श्रेय गुरु शिष्य परम्परा को जाता है। गुरु ने अपनी तपस्या, साधना और प्रयोगों से जितना जाना वह सब अपने शिष्यों में बाँट दिया। शिष्यों ने अपने गुरु द्वारा ग्रहण की गई शिक्षा को सहेजा, संवारा और अपनी साधना और प्रयोगों द्वारा पल्लवित और विकसित किया।

प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा ने ही संगीत को अधिक समृद्ध बनाया क्योंकि गुरु अपनी विधाओं में पारंगत होते थे तथा उन्हीं शिष्यों को स्वीकार करते थे जो तीव्र बुद्धि, लग्न, गुरु निष्ठा आदि गुणों की कसौटी पर खरे उतरते थे। शिक्षा कठिन तथा साधना से परिपूर्ण होती थी। नियमों की कसौटी पर उतरने के पश्चात् गुरु भी निष्काम भाव से शिक्षा देते थे तथा शिष्यों को सिखाने का पूरा दायित्व अपने ऊपर ले लेते थे। इस प्रकार गुरु शिष्य का सीना बसीना संगीत शिक्षण ग्रहण करने की अटूट क्रिया ही उनके सम्बंधों में मधुरता व प्रगाढ़ता लाती थी। शिक्षण में शुल्क का कोई महत्व नहीं था बल्कि शिष्य का स्वभाव, एकाग्रता कठिन साधना के प्रति तत्परता ही गुरु के प्रति सच्ची भेंट होती थी। गुरुकुल परम्परा में मौखिक परम्परा पर ही बल दिया जाता था। पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा मौखिक परम्परा से प्राप्त ज्ञान और कला समय के आघातों प्रतिघातों को सहन करते हुए भी आज किसी न किसी रूप में प्राप्य है। मौखिक परम्परा से ही हम पुरातन साहित्य एवं सांगीतिक सम्पदा को सुरक्षित रखा है। संगीत कला के सैद्धांतिक एवं कलात्मक दोनों ही पक्षों का संरक्षण तथा संवर्धन इसी मौखिक परम्परा से हुआ है और इसी गुरु शिष्य परम्परा से शिष्य कलाकार बनकर निकलते थे। इससे सिद्ध होता है कि संगीत शिक्षण में गुरु शिष्य परम्परा का सर्वाधिक महत्व है।

संदर्भ :

- (1) डा. अशोक कुमार - संगीत संवाद, पृष्ठ 265. (2) चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा - संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ 407.
- (3) राम प्रसाद त्रिपाठी संपादक, भगवत शरण उपाध्याय फूलदेव सहाय वर्मा - हिन्दी विश्वकोष, खण्ड-3, पृष्ठ 467. (4) श्याम सुन्दर दास मूलसंपादक - हिन्दी शब्द सागर तृतीय भाग, पृष्ठ 270. (5) डा. मधु बाला सक्सेना-भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्वरूप, पृष्ठ 13.
- (6) डा. हरी कृष्ण गोस्वामी - भारतीय संगीत की परम्परा, पृष्ठ 76.
- (7) डा. कुमार ऋषितोष - संगीत के विविध आयाम, पृष्ठ 95.

